हो चुके हैं और वे उपयोगी तथा आशयपूर्ण हैं (जिनमेंसे पं. बनारसीदासजी रचित अनुवाद इस पुस्तकमें भी छपाया है) परन्तु मैंने भी पार्श्वप्रभुकी भक्तिवशात् स्वाध्यायकी सिद्धि और परणामोंकी एकाग्रताके हेतु भाषापद्यानुवाद करनेका परिश्रम किया है । इस ग्रंथका प्रायः अन्वयार्थ तो मोरेना जैनसिद्धान्तविद्यालयके विद्यार्थी पं. देवकीनंदनजीद्वारा हुआ है, परन्तु पं. नाथूरामजी प्रेमी; शाह संतोपचन्द्रजी दाहोद और वड़कुर मूलचन्द्रजी दमोहने इस पुस्तकके प्रस्तुत करानेमें अतिशय श्रम किया है, इस लिये मुझे और समाजको इन महानुभावोंका आभार मानना चाहिये ।

हर्ष है कि मेरे द्वारा यह दूसरा जैनग्रंथ प्रकाशित होता है जिसमें दिगम्बर श्वेताम्बर आदिका साम्प्रदायिक पक्षपात नहीं है । आशा है कि मेरा यह प्रयत्न समाजको कल्याणकारी होगा ।

दमोह (मध्यप्रदेश.)
ज्येष्ठशुक्ला पञ्चमी
वीर सं. २४४१

भवदीय—
देवरी (सागर) निवासी
बुधूलाल श्रावक ।



श्रीपार्श्वनाथाय नमः

कल्याणमन्दिरस्तोत्र

अन्वयार्थ और पद्यानुवाद सहित

परम पंचकल्याण धर, कीन्हों निज कल्याण।
ते पारस कल्याणमय, करहु जगत कल्याण ॥ १ ॥

कल्याणमन्दिरमुदारमवद्यभेदि
भीताभयप्रदमनिन्दितमङ्घ्रिपद्मम्।
संसारसागरनिमज्जदशेषजंतु-
पोतायमानमभिनम्य जिनेश्वरस्य ॥१॥

यस्य स्वयं सुरगुरुर्गरिमाम्बुराशेः
स्तोत्रं सुविस्तृतमतिर्न विभुर्विधातुम्।
तीर्थेश्वरस्य कमठस्मयधूमकेतो-
स्तस्याहमेष किल संस्तवनं करिष्ये॥२॥ युग्मम्॥

अन्वयार्थ—(कल्याणमन्दिरं) कल्याणोंके मंदिर, (उदारम्) उदार, (अवद्यभेदि) पापोंके भंजन करनेवाले,

(भीताभयप्रदम्) संसारके दुःखोंसे डरनेवालोंको अभय पद देनेवाले, (अनिन्दितम्) उत्कृष्ट और (संसारसागरनिमज्जदशेषजन्तुपोतायमानम्) भवसमुद्रमें गोते खाते हुए सब जीवोंके लिये जहाजके समान आचरण करनेवाले अर्थात् भवसमुद्रमें डूबते हुए जीवोंका उद्धार करनेवाले (जिनेश्वरस्य) जिनेन्द्र भगवानके (अङ्घ्रिपद्मम्) चरणकमलोंको (अभिनम्य) नमस्कार करके; (गरिमाम्बुराशेः) गम्भीरताके समुद्र, (यस्य) जिसकी (स्तोत्रं विधातुम्) स्तुति करनेके लिये (स्वयं सुविस्तृतमतिः) स्वयं सुविशालबुद्धि (सुरगुरुः) बृहस्पति भी (विभुः) समर्थ (न) नहीं हैं, तथा (कमठस्मयधूमकेतोः) कमठका अभिमान भस्म करनेवाले (तस्य तीर्थेश्वरस्य) उस पार्श्वनाथस्वामीकी (किल) आश्चर्य है कि (एषः अहम्) मैं (संस्तवनं करिष्ये) स्तुति करता हूं ॥ २ ॥

छन्द ताटङ्क (तीसमात्रा अन्तमेंगुरु)

मंगल मंदर अतिशय सुंदर, अति उदार अघघायक हैं ।
भव भयतें भयभीत भविकको, परम अभयपद दायक हैं ॥
तारनहार पोत[1] सम जो जग,-जलधिमग्न भविवृन्दनको ।
वन्दन करिकें श्रीजिनेन्द्रके, ऐसे पद अरविन्दनको ॥ १ ॥
कमठ क्रूरके मदमन्दिरको, पावक सम दाहनहारे ।
गरिमासागर गुरु गुनआगर, आदि अनेक विरदधारे ॥
गाय सकें नहिं गुनगन जिनके, सुरगुरु जैसे महामती ।
ऐसे तीरथपति रिषिपतिके, गुन गावत हौं मन्दमती ॥२॥

1 जहाज ।

सामान्यतोऽपि तव वर्णयितुं स्वरूप-
मस्मादृशाः कथमधीश भवन्त्यधीशाः ।
धृष्टोऽपि कौशिकशिशुर्यदि वा दिवान्धो
रूपं प्ररूपयति किं किल घर्मरश्मेः ॥ ३ ॥

अन्वयार्थ—(अधीश) हे स्वामिन् ! (सामान्यतः अपि) साधारणरीतिसे भी (तव) तुम्हारे (स्वरूपम्) स्वरूपको (वर्णयितुम्) वर्णन करनेके लिये (अस्मादृशाः) हम सरीखे (कथम्) कैसे (अधीशाः भवन्ति) समर्थ होसकते हैं ? अर्थात् नहीं हो सकते । (यदि वा) जैसे (दिवान्धः कौशिकशिशुः) जिसे दिनमें नहीं सूझता है ऐसा उल्लूका बच्चा (धृष्टः अपि) धीट होकर भी (किम्) क्या (घर्मरश्मेः) सूर्यके (रूपम्) विम्बका (प्ररूपयति किल) वर्णन कर सकता है ? अर्थात् नहीं कर सकता ॥

भावार्थ—जब कि, आपके गुणोंका वर्णन करनेके लिये बृहस्पति भी समर्थ नहीं हैं तो मुझ सरीखे अल्पज्ञ कैसे समर्थ हो सकते हैं ? ॥ ३ ॥

विधि साधारणसे भी तेरा, शुभ स्वरूप हे जगतपती ।
कहनेको हों समरथ कैसे, हम जैसे अति मन्दमती ॥
कौशिकशिशु दिवसांध रहत जो, यदपि धीटता ग्रहण करै ।
तौ भी कैसे मारतंडकी, अतिप्रचंड दुति कथन करै ॥ ३ ॥

मोहक्षयादनुभवन्नपि नाथ मर्त्यो

नूनं गुणान्गणयितुं न तव क्षमेत ।
कल्पान्तवान्तपयसः प्रकटोऽपि यस्मा-
न्मीयेत केन जलधेर्ननु रत्नराशिः ॥ ४ ॥

अन्वयार्थ—(नाथ) हेनाथ ! (मर्त्यः) मनुष्य (मोहक्षयात्) मोहनीय कर्मके क्षय होनेसे (अनुभवन् अपि) अनुभव करता हुआ भी (तव गुणान्) तुम्हारे गुणोंको (गणयितुं) गिननेके लिये (नूनं न क्षमेत) निश्चय करके समर्थ नहीं होसकता है। (यस्मात्) क्योंकि (कल्पान्तवान्तपयसः जलधेः) प्रलयके समय जब कि समुद्र अपने तमाम पानीको बाहर फेंक देता है उस समय जलसे खाली हो जानेके कारण (प्रकटोऽपि) अच्छी तरह प्रकट हुई भी (रत्नराशिः) रत्नोंकी ढेरी (ननु केन मीयेत) किससे गिनी जासकती है ? अर्थात् किसीसे भी नहीं गिनी जासकती ॥

भावार्थ—जैसे कि प्रलयके समय जब समुद्र पानीसे बिलकुल रीता हो जाता है उस समय भी समुद्रमें जितने रत्न हैं उनकी गणना नहीं होसकती। उसी प्रकार हे नाथ ! मोहनीय कर्मके क्षय होनेसे यद्यपि मनुष्यको तुम्हारा प्रतिभास होने लगता है तो भी आपके गुणोंकी गणना नहीं होसकती है क्योंकि आपके गुण अनंतानंत हैं ॥ ४ ॥

मोहकर्मका क्षय होने पर, यद्यपि नर अनुभवन करै ।
तौ भी समरथ नहीं नाथ वह, तुव गुणगण जो कथन करै ॥

प्रलय समय सब सलिल निकल जानेपर जैसे सागरकी।
रत्नराशि दिख पड़ती तौ भी, हो न सके गणना उसकी॥४॥

अभ्युद्यतोऽस्मि तव नाथ जड़ाशयोऽपि
कर्तुं स्तवं लसदसंख्यगुणाकरस्य।
बालोऽपि किं न निजबाहुयुगं वितत्य
विस्तीर्णतां कथयति स्वधियाम्बुराशेः॥ ५॥

अन्वयार्थ—(नाथ) हेनाथ! (जड़ाशयः अपि अहम्) यद्यपि मैं मूर्ख हूं तो भी (लसदसंख्यगुणाकरस्य तव) शोभायमान असंख्य गुणोंकी खानिरूप ऐसे आपकी (स्तवं कर्तुम् अभ्युद्यतः अस्मि) स्तुति करनेके लिये प्रस्तुत हुआ हूं क्योंकि (बालः अपि स्वधिया) बालक भी अपनी बुद्धिके अनुसार (निजबाहुयुगं वितत्य) अपने दोनों हाथ फैलाकर (अम्बुराशेः) समुद्रके (विस्तीर्णताम्) विस्तारको (न कथयति किम्) नहीं कहता है क्या?॥

भावार्थ—जैसे कि, बालक अपनी बुद्धिके अनुसार समुद्रके विस्तारको बतलाता है उसी तरह हे स्वामी! मैं अल्पबुद्धि होकर भी आपकी स्तुति करता हूं॥ ५॥

मोरी मति अति थोरी भोरी, आप अमितगुणमंडित हैं।
प्रभु तौ भी हम तुम्हरी महिमा, गान करनको उद्यत हैं॥
रत्नाकर अतिशय अपार पै, शिशु ताकौ विस्तार कहै।
निजमतिके अनुसार बाहुजुग, कर प्रसार आकार कहै॥५॥

ये योगिनामपि न यान्ति गुणास्तवेश
वक्तुं कथं भवति तेषु ममावकाशः ।
जाता तदेवमसमीक्षितकारितेयं
जल्पन्ति वा निजगिरा ननु पक्षिणोऽपि ॥ ६ ॥

अन्वयार्थ—(ईश) हे भगवन् (ये तव गुणाः) जो तुम्हारे गुण हैं वे, जब कि (योगिनामपि) योगियोंद्वारा भी (वक्तुं न यान्ति) कहे नहीं जासकते तव (तेषु) उनमें (मम) मेरा (कथम्) कैसे (अवकाशः भवति) अवकाश हो सकता है अर्थात् उन्हें मैं कैसे वर्णन करसकता हूं ? (तत्) इसलिये (एवम्) इसप्रकार (इयम्) यह स्तुति (असमीक्षितकारिता जाता) बिनाविचारे हुई । (वा) अथवा ठीक ही है (निजगिरा) अपनी वाणीसे (पक्षिणोऽपि) पक्षी भी (जल्पन्ति ननु) बोला करते हैं ॥ ६ ॥

हे जिन तेरे सुगुन घनेरे, मुनिजन भी न वखान सकें ।
तिनकों हमसे दीन हीन जन, कौन भांति कर गान सकें ॥
तातैं प्रभु यह मेरी करनी, सकल समीक्षारहित भई ।
जैसे खग निज बानी बोलें, पर न होय वह अर्थमई ॥६॥

आस्तामचिन्त्यमहिमा जिन संस्तवस्ते
नामापि पाति भवतो भवतो जगन्ति ।
तीव्रातपोपहतपान्थजनान्निदाघे
प्रीणाति पद्मसरसः सरसोऽनिलोऽपि ॥ ७ ॥

अन्वयार्थ—(जिन) हे जिनेन्द्र! (अचिन्त्यमहिमा) चिंतवनमें न आनेयोग्य है महिमा जिसकी ऐसी (ते संस्तवः) तुम्हारी स्तुति तो (आस्ताम्) दूर रहो, (भवतः नाम अपि) आपका नाममात्र भी (भवतः) संसारसे (जगन्ति) लोगोंको (पाति) बचा लेता है। क्योंकि (निदाघे) ग्रीष्मकालमें (तीव्रातपोपहतपान्थजनान्) तीक्ष्ण आतापसे सताये हुए पथिक प्राणियोंको (पद्मसरसः) कमलसरोवरका (सरसः अनिलः अपि) जलकी छोटी २ बूँदोंसे मिलाहुआ पवन भी (प्रीणाति) सन्तुष्ट करता है॥

भावार्थ—जिस प्रकार ग्रीष्म कालमें घामसे सताये हुए पुरुषोंको कमलयुक्त सरोवर ही शान्ति देनेवाले नहीं होते हैं वरन् उनकी पवन भी सुख देती है, उसी प्रकार हे भगवन्! आपका स्तवन ही प्रभावशाली नहीं है वरन् आपका नाम भी संसारके दुःखोंसे बचाता है॥ ७॥

अति अचिंत्य महिमामय तेरी, थुतिका वर्णन कौन करै।
नाम मात्र भी तव भविजनको, भगवन भववन पार करै॥
तीव्रतापसे तपे हुए पथिकोंको जब नहिं चैन परै।
तव सरोजसर ही नहिं ताकी, सरस वायु भी शांति करै॥७॥

हृद्वर्तिनि त्वयि विभो शिथिलीभवन्ति
जन्तोः क्षणेन निबिडा अपि कर्मबन्धाः।
सद्यो भुजङ्गममया इव मध्यभाग-
मभ्यागते वनशिखण्डिनि चन्दनस्य॥

अन्वयार्थ—(विभो) हे प्रभु, (त्वयि जन्तोः हृद्वर्तिनि) तुम जब जीवोंके हृदयमें रहते हो तब उनके (निविड़ाः अपि) सघन भी (कर्मबंधाः) कर्मोंके बंधन (क्षणेन) पलभरमें (वन-शिखण्डिनि) वनमयूरके (चन्दनस्य मध्यभागम् अभ्यागते) चन्दनके वृक्षके बीचमें आने पर (भुजङ्गममयाः इव) सर्पोंकी कुं-ड़लियोंके समान (सद्यः शिथिलीभवन्ति) तत्काल ढीले पड़ जाते हैं ।

भावार्थ—जैसे मयूरके आते ही चंदनके वृक्षसे लिपटे हुए भयंकरसे भयंकर सांप ढीले हो जाते हैं उसी प्रकारसे ज्यों ही आप किसीके हृदयमें आते हैं त्यों ही उसके कर्मबंधन ढीले पड़ जाते हैं ॥ ८ ॥

जिन जीवनके विमल हृदयमें, नाथ आप विश्राम करैं ।
तिनके छिनमें कर्मनके अति, दृढ़ बंधन हू शिथिल परैं ॥
मलयागरके मध्यभागमें, वनमयूर ज्यों आजावें ।
विषधरके बहु विषम सुबंधन, ततछिन ढीले हो जावें ॥ ८ ॥

मुच्यन्त एव मनुजाः सहसा जिनेन्द्र
रौद्रैरुपद्रवशतैस्त्वयि वीक्षितेऽपि ।
गोस्वामिनि स्फुरिततेजसि दृष्टमात्रे
चौरैरिवाशु पशवः प्रपलायमानैः ॥ ९ ॥

अन्वयार्थ—(जिनेन्द्र) हे जिनेन्द्र ! (स्फुरित तेजसि गोस्वामिनि) तेजस्वी सूर्यके वा ग्वालोंके (दृष्टमात्रे) देखते ही

(आशु प्रपलायमानैः चौरैः पशवः इव) डरसे शीघ्र भागतेहुए चोरोंके पंजेसे जैसे पशुगण छूट जाते हैं उसीप्रकार (त्वयि वीक्षितेऽपि) आपके दर्शन करते ही (मनुजाः) मनुष्य (रौद्रैः उपद्रवशतैः) महाभयंकर सैकड़ों उपद्रवोंसे (सहसा एव) शीघ्र ही (मुच्यन्ते) छुटकारा पाते हैं ॥ ९ ॥

हे जिननायक शिवसुखदायक, जे भविजन तुव दरस लहैं।
भयकारी बहु विपदाओंसे, निमिष मात्रमें मुकति गहैं ॥
प्रबल दुसह अतिशय प्रभावमय, गोपतिके[1] कर दरशन ही।
भागे भये चोर पशुअनको, तज जाते हैं ततछन ही ॥ ९ ॥

त्वं तारको जिन कथं भविनां त एव
त्वामुद्वहन्ति हृदयेन यदुत्तरन्तः ।
यद्वा दृतिस्तरति यज्जलमेष नून-
मन्तर्गतस्य मरुतः स किलानुभावः ॥ १० ॥

अन्वयार्थ—(जिन) हे जिनेन्द्र, (त्वम् भविनां तारकः कथम्) तुम संसारी जीवोंके तारक कैसे हो सकते हो ? (यत्) क्योंकि (उत्तरन्तः त एव) संसार समुद्रसे पार होते हुए वे संसारी जीव ही (हृदयेन) हृदयसे (त्वामुद्वहन्ति) तुमको तिरा लेजाते हैं । ठीक है (यद्वा) कि (यत्) जो (दृतिः) मसक (जलम् तरति) जलमें तैरती है (स एषः) सो यह (नूनम्) निश्चय करके(अन्तर्गतस्य मरुतः) उसके भीतर भरी हुई वायुका (अनुभावः किल) ही प्रभाव है ।

१ गोपतिसे–सूर्यका आशय निकलता है और ग्वालका भी ।

भावार्थ—भव्य जीव आपको अपने हृदयमें धारण करके संसार समुद्रसे तिरते हैं; पर इसका अभिप्राय यह नहीं है कि वे आपके तारनेवाले हैं। यह ऐसी ही बात है जैसे मसक अपने भीतर भरी हुई वायुके प्रभावसे पानीमें तैरती है। अर्थात् जैसे वायुके प्रभावसे मसक तिरती है उसी प्रकार आपके प्रभावसे आपको हृदयमें धारण करनेवाले जीव संसार समुद्रसे पार होते हैं॥ १०॥

हे जिनवर तुम भवि जीवोंके, तारक कैसे हो सकते।
वे ही तुम्हें धारके उर विच, भवसागरसे हैं तिरते॥
हां! समझा जैसे जलनिधिमें, मसक सहज ही तिरती है।
पर समीरहीके प्रभावसे, जो वह उरमें धरती है॥ १०॥

यस्मिन्हरप्रभृतयोऽपि हतप्रभावाः
सोऽपि त्वया रतिपतिः क्षपितः क्षणेन।
विध्यापिता हुतभुजः पयसाथ येन
पीतं न किं तदपि दुर्द्धरवाडवेन॥ ११॥

अन्वयार्थ—(यस्मिन्) जिसके विषयमें (हरप्रभृतयः अपि हतप्रभावाः) हरि हर आदि भी हतप्रभाव होगये हैं (सः रतिपतिः अपि) वह कामदेव भी (त्वया) आपके द्वारा (क्षणेन क्षपितः) क्षणमात्रमें नष्ट कर दिया गया। ठीक ही है, (अथ) क्योंकि (येन पयसा) जिस जलने (हुतभुजः विध्यापिताः) अग्निको बुझाया है अर्थात् जो पानी अग्निको बुझानेवाला

है (तत् अपि) वह जल भी (दुर्द्धरवाडवेन न पीतं किं) क्या प्रचंड वड़वानलसे नहीं पिया गया? अर्थात् उस जलको क्या वड़वानल नहीं सोखती है? अवश्य सोख लेती है ॥

भावार्थ—जैसे जल अग्निको बुझाता है और उस जलको भी बडवानल सोख लेती है। इस ही तरहसे हे भगवन्, जिस कामदेवने समस्त हरि हरादिक देवोंको जीत लिया है उस कामदेवको भी आपने क्षणभरमें पराजित किया है ॥ ११ ॥

निजप्रतापतें हरिहरादिको, जाने क्षीण प्रभाव कियौ।
उस रतिपतिको भी त्रिभुवनपति, क्षणमें तुमने नाश कियौ॥
यद्यपि सकल अनलको शीतल—जल पल भरमें शमन करै।
किन्तु वाडवानल उसहीका, करके पान गुमान हरै ॥११॥

स्वामिन्ननल्पगरिमाणमपि प्रपन्ना-
स्त्वां जन्तवः कथमहो हृदये दधानाः।
जन्मोदधिं लघु तरन्त्यतिलाघवेन
चिन्त्यो न हन्त महतां यदि वा प्रभावः ॥१२॥

अन्वयार्थ—(स्वामिन्) हे भगवन्, (अहो) आश्चर्य है कि (अनल्पगरिमाणम् अपि त्वां प्रपन्नाः) बड़े भारी गौरवको प्राप्त ऐसे आपको पाकर (हृदये दधानाः) हृदयमें धारण करते हुए (जन्तवः) जीव (जन्मोदधिं) संसाररूपी समुद्रको (अतिलाघवेन) बहुत ही लघुतासे (कथम्) कैसे (लघु तरन्ति) शीघ्र तरजाते हैं, अर्थात् पार हो जाते हैं। (यदि वा) अथवा

(हन्त) आश्चर्य की बात है कि (महतां प्रभावः चिन्त्यो न 'भवति') महापुरुषोंका प्रभाव चिन्तवनमें नहीं आता है ॥१२॥

हे जगपति अतिशय गरुवे तुम, भवजन निज हिय माहिं धरैं।
निमिष मात्रमें अति लघुतासे, कैसे भवसागर उतरैं ॥
भार तिहारेतैं बोझल पै, नहीं डूबते निश्चय है।
महाजनोंकी महिमा ही कछु,अहो अचिन्त्य अनूपम है॥१२॥

क्रोधस्त्वया यदि विभो प्रथमं निरस्तो
ध्वस्तास्तदा वद कथं किल कर्मचौराः ।
प्लोषत्यमुत्र यदि वा शिशिरापि लोके
नीलद्रुमाणि विपिनानि न किं हिमानी॥१३॥

अन्वयार्थ—(यदि विभो) यदि हे प्रभु! (त्वया क्रोधः प्रथमं निरस्तः) आपने क्रोधको पहिले ही नष्ट कर दिया है (तदा-वद) तो फिर बतलाइये कि (कर्मचौराः कथम् ध्वस्ताः किल) कर्मरूपी चोरोंको कैसे नष्ट किया? (यदि वा अमुत्र लोके) ऐसा भी तो लोकमें होता है कि (हिमानी शिशिरापि) बर्फ अर्थात् पाला ठंडा होनेपर भी (किम् नीलद्रुमाणि विपिनानि) क्या हरे २ हैं वृक्ष जिनमें ऐसे वनोंको (न प्लोषति) नहीं जला देती है? अर्थात् क्या नहीं मुरझा देती है? ॥ १३ ॥

क्रोध कुधीको हे जिन! तुमने, पहिले ही यदि शमन कियौ।
कर्मचोरदल तो फिर स्वामी, कहौ कौन विधि दमन कियौ? ॥

---

१ क्रोध नवमें ही गुणस्थानमें नष्ट होजाता है और कर्म चौदहवें गुणस्थानके अंततक नष्ट होते हैं।

क्या ऐसे ही ? जैसे हिमकर, निज स्वभावसे शीतल है।
तौ भी हरेभरे विपिनोंको, पलक माहिं सहमूल दहै ॥१३॥

त्वां योगिनो जिन सदा परमात्मरूप-
मन्वेषयन्ति हृदयाम्बुजकोशदेशे ।
पूतस्य निर्मलरुचेर्यदि वा किमन्य-
दक्षस्य सम्भवपदं ननु कर्णिकायाः ॥ १४ ॥

अन्वयार्थ—(जिन) हे जिन, (योगिनः) योगी महात्मा (सदा) निरन्तर (परमात्मरूपं) परमात्मस्वरूप (त्वाम्) आपको (हृदयाम्बुजकोशदेशे) अपने हृदयकमलके कोशमें अर्थात् मध्यभागमें (अन्वेषयन्ति) ढूंढ़ते हैं। (यदि वा) ठीक है क्योंकि (पूतस्य) पवित्र और (निर्मलरुचेः) उज्वल कान्तिवाले (अक्षस्य सम्भवपदं) कमलके बीजका उत्पत्तिस्थान अथवा शुद्धात्माको खोज करनेका स्थान (कर्णिकायाः अन्यत् किम् ननु) कमलकी कर्णिकाको छोड़कर अथवा हृदयकमलकी कर्णिकाको छोड़कर दूसरा क्या हो सकता है ॥ १४ ॥

भावार्थ—जैसे कमल बीज यदि मिलेगा तो कमल कर्णिकामें ही मिलेगा उसी तरह आपका शुद्धात्मस्वरूप हृदयकमलको छोड़ दूसरी जगह नहीं ध्याया जा सकता ।

शुद्धरूप परमातम आप प्रभु, निज आतमरस सदा चखें।
हृदयाम्बुजके कोश भागमें, योगीश्वर इमि तुम्हें लखें ॥

अतिशय निर्मल पावन दुतिधर, ऐसो अंबुजवीज अहो।
ताकौ कलिका छोड़ कहो फिर, अन्य कौन थल संभव हो १४

ध्यानाज्जिनेश भवतो भविनः क्षणेन
देहं विहाय परमात्मदशां व्रजन्ति ।
तीव्रानलादुपलभावमपास्य लोके
चामीकरत्वमचिरादिव धातुभेदाः ॥ १५ ॥

अन्वयार्थ—(जिनेश) हे जिनेश ! (लोके धातुभेदाः तीव्रानलात् उपलभावम् अपास्य अचिरात् चामीकरत्वम् इव) जैसे संसारमें तीव्र अग्निके संबंधसे जिन धातुओंसे सोना बनता है वे नानाप्रकारकी धातुएं अपने पूर्व पत्थररूपको छोड़कर झटसे सोना हो जाती हैं उसी प्रकारसे हे भगवान् (भवतः ध्यानात्) आपके ध्यानसे (भविनः) संसारी जीव (क्षणेन) क्षणभरमें (देहं विहाय) शरीरको छोड़कर (परमात्मदशां व्रजन्ति) परमात्मावस्थाको प्राप्त हो जाते हैं ॥

भावार्थ—जिसप्रकार तीव्र अग्निसे अशुद्ध स्वर्णपत्थरमेंकी अशुद्धता हट जाती है और शुद्ध सोना प्रकट होजाताहै उसी प्रकार आपके ध्यानसे जीव अपनी अशुद्धताको छोड़कर शुद्धस्वरूप हो जाते हैं ॥ १५ ॥

ध्यानप्रताप तिहारो ऐसो, हे जिनगनके प्रमुखपती ।
भविजन ततछिन देहरहित है, पावत हैं परमात्मगती ॥
जैसे हेम उपलको मिश्रण, प्रबल अनलके माहिं दहै ।
सब विभाव तजि स्वल्पकालमें, शुद्ध स्वर्णता अवशि लहै॥१५

अन्तः सदैव जिन यस्य विभाव्यसे त्वं
भव्यैः कथं तदपि नाशयसे शरीरम् ।
एतत्स्वरूपमथ मध्यविवर्तिनो हि
यद्विग्रहं प्रशमयन्ति महानुभावाः ॥ १६ ॥

अन्वयार्थ—(जिन) हे जिनेन्द्र (भव्यैः) भव्य जीवोंके द्वारा (यस्य अन्तः) जिस शरीरके भीतर (त्वम् सदैव) आप सदा ही (विभाव्यसे) ध्याये जाते हो (तदपि शरीरम्) उस शरीरको भी आप (कथम्) क्यों (नाशयसे) नाश कर देते हो? (अथ) अथवा (एतत् स्वरूपं हि) यह स्वभाव ही है (यत्) कि (मध्यविवर्तिनः महानुभावाः) मध्यस्थ महापुरुष (विग्रहं प्रशमयन्ति) विग्रहको शान्त ही करते हैं ॥

भावार्थ—यहां विग्रह शब्दके दो अर्थ हैं एक शरीर दूसरा उपद्रव अर्थात् लड़ाई झगड़ा । आशय यह है कि जिस शरीरके मध्यमें स्थित करके भव्य पुरुष तुम्हारा ध्यान करते हैं उस शरीरको आप क्यों नाश कर देते हैं अर्थात् उनको शरीररहित वा मुक्त क्यों कर देते हैं ? जिस शरीरमें आपका ध्यान किया था आपको चाहिये था कि उसकी रक्षा करते, सो आपने उससे विपरीत ही किया । इस प्रश्नको उठाकर कवि उसका स्वयं ही समाधान करलेता है कि ठीक ही है जो महानुभाव होते हैं वे मध्यस्थ होकर विग्रहको अवश्य शांत करते हैं । सो हे भगवन् ! जब तुम शरीरमध्यस्थ होते हो तो विग्रह अर्थात् शरीरको नष्ट कर देते हो अर्थात्

आपके ध्यानसे शरीर छूट जाता है और आत्मा मुक्त हो जाता है, यह यथार्थ ही है ॥ १६ ॥

भव्य जीव जिहिके विच थिर करि,तुमहिं निरंतर ध्यावत हैं।
उस शरीरको हे अशरीरी प्रभु क्यों आप नशावत हैं ? ॥
उदाहरण क्या इस सुनीतिका, अथवा आप दिखावत हैं।
हो करके मध्यस्थ औरके, विग्रह सुजन शमावत हैं ॥१६॥

आत्मा मनीषिभिरयं त्वदभेदबुद्ध्या
ध्यातो जिनेन्द्रभवतीह भवत्प्रभावः ।
पानीयमप्यमृतमित्यनुचिन्त्यमानं
किं नाम नो विषविकारमपाकरोति ॥ १७ ॥

अन्वयार्थ—(जिनेन्द्र) हे जिनेन्द्र (इह) इस लोकमें (मनीषिभिः) योगियोंद्वारा (त्वदभेदबुद्ध्या ध्यातः) आपसे अभिन्न है ऐसी बुद्धिसे ध्यान किया हुआ (अयम् आत्मा) यह आत्मा (भवत्प्रभावः भवति) आपहीके समान होजाता है। ठीक ही है (अमृतं इति अनुचिन्त्यमानं पानीयमपि) यह अमृत है ऐसा विश्वास करनेसे पानी भी (किं विषविकारं नो अपाकरोति नाम) क्या विषके विकारको दूर नहीं करता ? ॥

भावार्थ—जिस प्रकार पानीको मंत्रादिके संयोगसे अमृत समझकर उपयोगमें लानेसे वह विषादिकी पीड़ाको दूर कर देता है उसी प्रकार अपने आत्माको आपके समान चिन्तवन करनेसे योगी पुरुष आपहीके समान होजाते हैं ॥ १७ ॥

तुव समान अति शुद्ध मान जो, निज आतमको ध्यावत हैं।
हे जिनवर ते बुधिवर सचमुच, शुद्ध स्वरूपहिं पावत हैं ॥
मंत्रित शुद्ध सलिलको यदि जन, कोऊ सुधा सरधान करै।
तो न कहा वह सुधातुल्य हो, विषविकारकी हानि करै ॥१७॥

त्वामेव वीततमसं परवादिनोऽपि
नूनं विभो हरिहरादिधिया प्रपन्नाः ।
किं काचकामलिभिरीश सितोऽपि शङ्खो
नो गृह्यते विविधवर्णविपर्ययेण ॥ १८ ॥

अन्वयार्थ—(वीततमसम् त्वाम् एव) अज्ञानांधकार-रहित आपहीको (परवादिनः अपि) अन्यमतावलम्बी पुरुष भी (विभो) हे स्वामिन्, (नूनं) निश्चयसे (हरिहरादिधिया प्रपन्नाः) विष्णु महादेव इत्यादि कल्पना कर पूजते हैं। (किम्) क्या (ईश) हे स्वामिन्, (काचकामलिभिः) जिनको काचकामल अर्थात् पीलिया रोग हो जाता है वे (शङ्खः सितः अपि) शंख श्वेतवर्णवाला है तो भी उसको (विविधवर्णविपर्ययेण) नाना विपरीत वर्णोंकी कल्पनासे (नो गृह्यते) नहीं ग्रहण करते हैं ? अर्थात् करते ही हैं ॥

भावार्थ—हे भगवन् अन्यमतावलंबी जो हरिहरादिककी पूजा करते हैं सो मेरी समझमें आपहीको अपने मिथ्यात्वादिके वशसे हरिहरादि समझकर पूजते हैं; जैसे पीलिया रोगवाला सफेद शंखको पीला समझकर ग्रहण करता है ॥ १८ ॥

हे अबोधतमरहित जगतपति, हे जिनेश हे परमयती।
हरिहरादिकी ठान कल्पना, तुम्हें नमत हैं अन्यमती ॥
जैसे अपने ही स्वभावसे, यदपि शंख अति स्वेत अहै।
रोग पीलियावारो ताकों, समझि पीत विपरीत गहै ॥१८॥

धर्मोपदेशसमये सविधानुभावा-
दास्तां जनो भवति ते तरुरप्यशोकः।
अभ्युद्गते दिनपतौ समहीरुहोऽपि
किं वा विबोधमुपयाति न जीवलोकः॥ १९॥

अन्वयार्थ—(धर्मोपदेशसमये) धर्मोपदेशके समय (ते सविधानुभावात्) आपकी समीपताके प्रभावसे (जनः आस्तां) मनुष्यकी तो बात ही क्या (तरुरपि अशोकः भवति) वृक्ष भी अशोक हो जाता है। (किं वा) क्या (दिनपतौ अभ्युद्गते) सूर्यके उदय होनेपर (समहीरुहोऽपि जीवलोकः) सब जीवोंके साथ साथ वृक्षादि भी (विबोधं न उपयाति) विकासको प्राप्त नहीं होते ?

भावार्थ—इस श्लोकमें अशोक शब्दमें श्लेष है। जिसका एक अर्थ अशोक नामका वृक्ष है और दूसरा अर्थ शोकरहित प्रसन्नतायुक्त है। ऐसा ही विबोध शब्द है। जीवजन्तु विबोधको प्राप्त होजाते हैं अर्थात् जाग उठते हैं और वृक्ष विबोधको प्राप्त होजाते हैं अर्थात् डहडहे तथा प्रफुल्लित हो जाते हैं ॥ १९ ॥

तत्त्वकथनके समय जिनेश्वर, कथा कौन मानवकी है।
तुव समीपताके प्रभावसे, हुआ अशोक विटप भी है ॥

रविके उदयसमयमें केवल, जीववृन्द नहिं जागे हैं।
तरुराजी भी होकर ताजी, राजी दिखने लागे हैं ॥ १९ ॥

चित्रं विभो कथमवाङ्मुखवृन्तमेव
विष्वक्पतत्यविरला सुरपुष्पवृष्टिः।
त्वद्गोचरे सुमनसां यदि वा मुनीश!
गच्छन्ति नूनमध एव हि बन्धनानि ॥ २० ॥

अन्वयार्थ—(विभो) हे स्वामिन्, (चित्रम्) आश्चर्य है कि (विष्वक् अविरला सुरपुष्पवृष्टिः) चारों ओर देवोंद्वारा की हुई सघन पुष्पवृष्टि (अवाङ्मुखवृन्तम् एव) नीचेको डंठल और ऊपरको है पांखुरी जिसकी ऐसी ही (कथम् पतति) क्यों होती है? (यदि वा) अथवा ठीक ही है (मुनीश) हे मुनीश, (त्वद्गोचरे) आपके समक्ष (सुमनसां बन्धनानि) पुष्पोंके बंधन अर्थात् डंठल अथवा स्वच्छ हृदयवाले भक्तोंके बंधन (नूनं हि) निश्चयसे (अध एव गच्छन्ति) नीचेको ही जाते हैं ॥ २० ॥

है अचरज जो सुरगनद्वारा, सुमन सघन चहुँदिशि बरसें।
नीचे डंठल ऊपर पखुरी, होकर वे भूपर दरसें ॥
प्रकट आपकी यह महिमा प्रभु, जो नर तुम्हरे निकट रहें।
उन सुजनन अरु सुमनवृन्दके, बंधन नीची दशा गहें ॥२०॥

स्थाने गभीरहृदयोदधिसम्भवायाः
पीयूषतां तव गिरः समुदीरयन्ति।

---

१ वृक्षोंका समूह।

पीत्वा यतः परमसंमदसङ्गभाजो
भव्या व्रजन्ति तरसाप्यजरामरत्वम् ॥ २१ ॥

अन्वयार्थ—हे स्वामिन् (गभीरहृदयोदधिसम्भवायाः) गम्भीर हृदयरूपी समुद्रसे पैदा हुई (तव) आपकी (गिरः) दिव्यध्वनिमें (पीयूषतां समुदीरयन्ति) लोग अमृतपना कहते हैं सो (स्थाने) यथोचित है (यतः) क्योंकि (भव्याः) भव्यजीव ("ताम्" पीत्वा) उसे पीकर (परमसंमदसङ्गभाजः) परम आनंदके भागी होते हुए (तरसापि) बहुत ही शीघ्र (अजरामरत्वं व्रजन्ति) अजरअमरपने को प्राप्त होते हैं ॥२१॥

अति अगाध हृदयोदधितैं जो, प्रकटी तुव प्रभु दिव्यगिरा ।
सुधारूप परिणमन करत सो, पूजनीय पावन प्रवरा ॥
ताहि करें जो पान भव्यजन, ते अतिशय प्रमुदित होके ।
स्वल्प कालमें अजर अमर पद, पावत हैं सब दुख खोके॥२१॥

स्वामिन्सुदूरमवनम्य समुत्पतन्तो
मन्ये वदन्ति शुचयः सुरचामरौघाः ।
येऽस्मै नतिं विदधते मुनिपुङ्गवाय
ते नूनमूर्ध्वगतयः खलु शुद्धभावाः ॥ २२ ॥

अन्वयार्थ—(स्वामिन्) हे स्वामी, (मन्ये) मैं मानता हूं कि (सुदूरं अवनम्य) नीचेको अतिशय नम्रीभूत होकर (समुत्पतन्तः) ऊपरको जाते हुए अर्थात् आपके ऊपर ढुलते समय, नीचे से ऊपर को जाते हुए (शुचयः) पवित्र (सुर-

चामरौघाः) देवताओंके चमर समूह (वदन्ति) लोगोंसे कह रहे हैं कि (ये अस्मै मुनिपुङ्गवाय) जो इन मुनीन्द्रको (नतिं विदधते) नमस्कार करते हैं (ते) वे पुरुष (नूनं) निश्चय करके (शुद्धभावाः) विशुद्ध परिणामवाले होकर (ऊर्ध्वगतयः) ऊर्ध्वगतिवाले ("भवन्ति" खलु) हो जाते हैं।

भावार्थ—आपके आसपास जो चमर ढुर रहे हैं वे यही कहते हैं कि, जो इन भगवानके प्रति नम्रीभूत होकर नमस्कार करेंगे वे हमारे ही समान ऊर्ध्वगति वाले हो जावेंगे ॥ २२ ॥

अमर-निकरके करमें विलसत, चमर चारु शुचि स्वच्छ अहैं।
तुमहिं नमन पुनि गमन ऊर्ध्वकरि, मनहुं भविकहित वैनकहैं॥
ऐसे श्रीमुनिगननायकको, मानवगन जो नमन करें।
निश्चय करके परम शुद्ध हैं, ऊरध गति प्रति गमन करें॥२२॥

श्यामं गभीरगिरमुज्ज्वलहेमरत्न-
सिंहासनस्थमिह भव्यशिखण्डिनस्त्वाम्।
आलोकयन्ति रभसेन नदन्तमुच्चै-
श्चामीकराद्रिशिरसीव नवाम्बुवाहम् ॥ २३ ॥

अन्वयार्थ—(इह) इस लोकमें (श्यामम्) श्यामवर्ण (गभीरगिरम्) गम्भीर दिव्यध्वनि करनेवाले और (उज्ज्वलहेमरत्नसिंहासनस्थम्) उज्ज्वल सुवर्णके बने हुए नानारत्न जड़ित सिंहासनके ऊपर बैठे हुए (त्वाम्) आपको (भव्यशिखण्डिनः) भव्यजीवरूपी मयूर (चामीकराद्रिशिरसि) सुवर्णमयसुमेरु-पर्वतपर (उच्चैः नदन्तम्) जोरसे गर्जते हुए (नवाम्बुवाहम्

इव) नवीन वर्षाकालीन मेघकी तरह (रभसेन आलोकयन्ति) बड़ी उत्सुकतासे देखते हैं।

भावार्थ—सुवर्णके सिंहासनपर आपका सांवला शरीर जिसमेंसे कि गंभीर दिव्यध्वनि होती है ऐसा जान पड़ता है जैसे सुमेरु पर्वतपर काले मेघगर्जन कर रहे हैं। उन मेघोंसे जैसे मयूर प्रसन्न होते हैं, उसी प्रकार आपकी दिव्यध्वनि और दर्शनसे भव्यजीव प्रसन्न होते हैं॥ २३॥

अतिशय उज्ज्वल सुवरणमणिमय, सिंहासन पर राजत है।
श्याम शरीर आपका हे प्रभु, गिरा गँभीर उचारत है॥
तव भविरूप मयूरनके गन, निरखत आनँदसों उमहे।
मानो शिखर अमर गिरिवर पर, नवतर जलधर गरज रहे २३

उद्गच्छता तव शितिद्युतिमण्डलेन
लुप्तच्छदच्छविरशोकतरुर्बभूव।
सांनिध्यतोऽपि यदि वा तव वीतराग!
नीरागतां व्रजति को न सचेतनोऽपि॥ २४॥

अन्वयार्थ—(तव सांनिध्यतःअपि) आपकी समीपतासे ही (उद्गच्छता) स्फुरायमान (तव शितिद्युतिमण्डलेन) आपके प्रभामण्डलद्वारा (अशोकतरुः) अशोक वृक्ष (लुप्तच्छदच्छविः) छविहीन पत्रोंवाला (बभूव) होगया अर्थात् आपके भामंडलकी प्रभासे अशोकवृक्षके पत्तोंकी ललाई दब गई। (वीतराग) हे वीतराग (यदि वा) जब कि अशोकवृक्षका राग आपके पास रहनेहीसे लुप्त होगया तब (कःसचेतनः) ऐसा कौन सचेतन

पुरुष है ? जो (नीरागताम्) वीतरागताको (न व्रजति) नहीं प्राप्त होगा (अपि) अवश्य होगा।

भावार्थ—जब कि अशोकवृक्ष जिसमें ध्यानादि शक्ति नहीं है केवल आपकी निकटतासे ही नीराग होजाता है अर्थात् अशोक वृक्षकी लालिमा आपके भामंडलकी प्रभासे दब जाती है तो जिस पुरुषमें ध्यानादि करनेकी शक्ति है वह अपाके ध्यान वा समीपतासे वीतराग क्यों न होगा ? अवश्य होगा ॥२४॥

तुव तन भामंडल प्रभावतैं, वीतराग होजाते हैं।
तरु अशोकके पल्लव सुन्दर, प्रभाहीन दिखलाते हैं ॥
प्रभु जब तेरी, समीपतातैं जड़ तरुवर निज मल खोवें।
तब सुचेतना सहित पुरुषगण, क्यों नहिं रागरहित होवें २४

भो भोः प्रमादमवधूय भजध्वमेन-
मागत्य निर्वृतिपुरीं प्रति सार्थवाहम्।
एतन्निवेदयति देव जगत्त्रयाय
मन्ये नदन्नभिनभः सुरदुन्दुभिस्ते ॥ २५ ॥

अन्वयार्थ—(देव) हे देव (मन्ये) मैं समझता हूं कि (अभिनभः) आकाशमें (नदन्) शब्दायमान (ते सुरदुन्दुभिः) देवताओंके द्वारा बजाई हुई आपकी दुन्दुभि (जगत्त्रयाय) तीनलोकको (एतत् निवेदयति) यह सूचित करती है कि (भोः भोः) रे रे प्राणियो, (प्रमादमवधूय) प्रमाद छोड़के (निर्वृतिपुरीं प्रति सार्थवाहम्) मोक्षपुरीको लेजाने में अगुआ

(एनम्) इनकी (आगत्य) शरणमें आकर (भजध्वम्) इन्हें भजो ॥

भावार्थ—आकाशमें जो दुन्दुभि शब्द करती है सो मानो यह कहती है कि, सब लोग आकर इनकी सेवा करो, ये जीवोंको मुक्ति प्राप्त करानेवाले हैं ॥ २५ ॥

हे जिन तेरो सुरदुन्दुभि जो, नभमंडलमें नाद करै ।
तीन जगतके जनसमूहसे, सो मानों यों विदित करै ॥
अहो ! अहो ! जगवासीजन तुम, निज प्रमादको तजन करौ ।
मोक्षपुरीके मगवाहकको, यहां आयकर भजन करौ ॥ २५ ॥

उद्योतितेषु भवता भुवनेषु नाथ
तारान्वितो विधुरयं विहताधिकारः ।
मुक्ताकलापकलितोल्लसितातपत्र
व्याजात्त्रिधा धृततनुर्ध्रुवमभ्युपेतः ॥ २६ ॥

अन्वयार्थ—(नाथ) हे नाथ, (भवता भुवनेषु उद्योतितेषु) आपने अपना उद्योत तीनों लोकोंमें व्याप्त कर दिया है इससे ही मानो (मुक्ताकलापकलितोल्लसितातपत्रव्याजात्) मोतियोंकी झालरसे शोभायमान छत्रके छलसे (तारान्वितः) ताराओंसे वेष्टित (विहताधिकारः) अपने अधिकार अर्थात् स्थानसे भ्रष्ट हुआ (अयम् विधुः) यह चन्द्रमा ही (त्रिधा धृततनुः) अपने तीन शरीर धारण कर (ध्रुवम्) निश्चयसे (अभ्युपेतः) आपकी सेवा कर रहा है ॥ २६ ॥

भावार्थ—जब आपने तीनों लोकोंको प्रकाशित कर दिया

तब मानो चन्द्रमाकी प्रकाशक शक्ति नष्ट हो गई, इससे अधिकार भ्रष्ट होकर सेवामें उपस्थित हुआ है । और छत्रों में मोतियोंकी झालर, मानो तारागन हैं ।

हे प्रभुवर उद्योत आपको, उदित भयौ त्रिभुवन माहीं ।
तातें मुक्ताफल सह राजत, छत्र तीन शुभ धुव याहीं ॥
तारागणयुत तारापति जो, अंधकार सहमूल दहै ।
तिहि छलधरि वह मनहुँ तीन तन, करत सेव यह निश्चय है२६

स्वेन प्रपूरितजगत्त्रयपिण्डितेन
कान्तिप्रतापयशसामिव सञ्चयेन ।
माणिक्यहेमरजतप्रविनिर्मितेन
सालत्रयेण भगवन्नभितो विभासि ॥ २७ ॥

अन्वयार्थ—(भगवन्) हे भगवान्, आप (अभितः स्वेन प्रपूरितजगत्त्रयपिण्डितेन) चहुं ओर सम्पत्तिसे भरे हुए तीनों जगतके पिण्डके समान ही हैं क्या ? मानो ऐसे (कान्तिप्रताप-यशसाम् सञ्चयेन इव) तथा कान्ति प्रताप और यशके ढेरके समान (माणिक्यहेमरजतप्रविनिर्मितेन) माणिक्य सुवर्ण और चांदीसे बने हुए (सालत्रयेण) तीन गढ़ोंसे (विभासि) शोभायमान होते हो ॥

भावार्थ—स्वामिन्, आपके समवसरणमें जो तीनों शाल अर्थात् गढ़ हैं वे माणिक्य सोना और चांदीके बने हुए हैं सो ऐसे मालूम पड़ते हैं कि ये धनपूर्ण तीन लोक तो नहीं हैं ? अथवा क्रान्ति प्रताप और कीर्तिके समुच्चय तो नहीं हैं ? भगवानके

शरीरकी कान्ति माणिक्यके समान उज्ज्वल, प्रताप सुवर्णके समान पीला, और कीर्ति चांदीके समान शुक्ल वर्ण है ॥ २७ ॥

चहुँदिशि माणिक हेम रजतके, तीन कोट जो राजत हैं ।
पिंडीभूत जगत्त्रयके सम, हे भगवन सो छाजत हैं ॥
अथवा कान्ति प्रताप कीर्तिके, पुंज आपके सोह रहे ।
समवसरणमें अस उपमायुत, जग-जनमन ये मोह रहे॥२॥७

दिव्यस्रजो जिन नमत्त्रिदशाधिपाना-
मुत्सृज्य रत्नरचितानपि मौलिबन्धान् ।
पादौ श्रयन्ति भवतो यदि वापरत्र
त्वत्सङ्गमे सुमनसो न रमन्त एव ॥ २८ ॥

अन्वयार्थ—(जिन) हे जिनेन्द्र, (दिव्यस्रजः) दिव्य-पुष्पोंकी मालाएं, (नमत्त्रिदशाधिपानाम्) आपके चरणों पर झुकते हुए देवेन्द्रोंके (रत्नरचितानपि मौलिबन्धान्) रत्नजड़ित मुकटोंके बन्धनोंको (उत्सृज्य) छोड़कर (भवतः) आपके (पादौ) चरणोंका (श्रयन्ति) आश्रय लेती हैं। (यदि वा) अथवा ठीक ही है (त्वत्सङ्गमे) आपका समागम होनेपर (सुमनसः) सुमनस अर्थात् पुष्पमालाएं अथवा अच्छे मनवाले भव्य (अपरत्र) दूसरी जगह (न एव रमन्ते) नहीं रमते हैं अर्थात् आपके चरणोंहीका आश्रय लेते हैं ॥

भावार्थ—सुमनस शब्दके दो अर्थ हैं एक पुष्प, दूसरा अच्छे मन वाले भव्य । सो हे भगवन् ! देवेन्द्रोंके मुकटोंके सुमन

आपके चरणोंका आश्रय लेते हैं सो उचित ही है। सुमनस अर्थात् भव्यजीव आपके चरणों को छोड़कर और कहां आश्रय लें ?॥२८॥

भक्ति भावसे सकल अमरपति, तुम्हें आय जब नमन करैं।
सुमनमाल तब रतनमुकुट तजि, हे जिनवर तुव चरन परैं॥
सब प्रकारसे समुचित ही यह, उनकी करनी समझ परै।
'सुमनस'तुव चरणोंको परिहरि, और ठौर नहिं रमन करै२८

त्वं नाथ जन्मजलधेर्विपराङ्मुखोऽपि
यत्तारयस्यसुमतो निजपृष्ठलग्नान्।
युक्तं हि पार्थिवनिपस्य सतस्तवैव
चित्रं विभो यदसि कर्मविपाकशून्यः॥ २९॥

अन्वयार्थ—(नाथ) हे नाथ, (त्वम्) आप (जन्मजलधेर्विपराङ्मुखः अपि) भवसमुद्रसे पराङ्मुख हैं, अर्थात् भवसमुद्रसे आपने अपना मुख मोड़ लिया है तौ भी (यत्) जो आप (निजपृष्ठलग्नान् असुमतः) अपने अनुयायी भव्यजीवोंको (पार्थिवनिपस्य सतः तवैव) पके हुए घड़ेके समान (तारयसि) तार देते हो अर्थात् पके घड़ेको जब जलमें पराङ्मुख अर्थात् उल्टा कर देते हैं तो मनुष्य उसकी पीठ पर औंधा लेटकर पार हो जाता है। सो जिस तरह जलसे पराङ्मुख घड़ा अपनी पीठ पर आरूढ़ होनेवालोंको पार कर देता है। उसी तरह भव समुद्रसे पराङ्मुख हुए आप, अपने अनुयायिओंको तार देते हैं। सो यह (युक्तम् हि) उचित ही है परंतु (विभो) हे प्रभु (चित्रम्) आश्चर्य है (यत्) कि आप (कर्मविपाकशून्यः असि) कर्मोंके विपाकसे शून्य हैं॥

भावार्थ—घड़ा जब पकाया हुआ अर्थात् कर्मविपाकसहित हो तब ही वह अधोमुख होकर अपने पीठ पर आरूढ़ पुरुषोंको तार सकता है। परंतु हे भगवन्, आप कर्मविपाकशून्य हैं अर्थात् आपमें कर्मोंका फलादि कुछ भी नहीं है। जब आपके सर्व कर्म नष्ट ही हो चुके तो फिर उनका विपाकादि कहां? तौ भी आप भव्योंको भवसमुद्रसे तार देते हो सो यह बड़ा आश्चर्य है॥ २९॥

जगज्जलधिसे विमुख नाथ तुम, पृष्ठलग्न भवि जीवनकों।
तार देत हो उसी तरह ज्यों, उलटा घट मानवजनकों॥
है जिन, पै वह सब प्रकारसे, पक्ककर्मविधि सहित अहै।
वर्जित कर्मविपाक आप हौ, अति विशाल यह अचरज है २९

विश्वेश्वरोऽपि जनपालक दुर्गतस्त्वं
किं वाक्षरप्रकृतिरप्यलिपिस्त्वमीश।
अज्ञानवत्यपि सदैव कथंचिदेव
ज्ञानं त्वयि स्फुरति विश्वविकासहेतु॥ ३०॥

अन्वयार्थ—(जनपालक) हे जगदीश्वर, (त्वम्) आप (विश्वेश्वरःअपि दुर्गतः) तीन लोकके स्वामी होकर भी दुर्गत अर्थात् निर्धन हैं (किं वा) और (अक्षरप्रकृतिः अपि त्वम् अलिपिः) अक्षर स्वभाव होकर भी आप लिखे नहीं जासकते हैं (ईश) हे स्वामिन्, (कथंचित् अज्ञानवति अपि त्वयि विश्वविकासहेतु ज्ञानं सदैव स्फुरति) एक प्रकारसे आप अज्ञानवान् हो तौ भी आपमें वह ज्ञान सदा स्फुरायमान रहता है जो तीन लोकके सब पदार्थोंकी सर्वकालिक संपूर्ण पर्यायोंको युगपत् जानता है।

भावार्थ—यहां पर विरोधालंकार है । विरोधालंकार जहां होता है वहां शब्दके सुनते समय तो विरोधसा समझ पड़ता है परंतु तत्त्वदृष्टिसे देखनेपर विलक्षण अर्थ निकलता है । जैसे ऊपर कहा कि, भगवन् आप विश्वेश्वर हैं तौ भी दुर्गत हैं । इसमें सुनते समय यह विरोध माॡम पड़ता है कि जो विश्वेश्वर होगा वह दुर्गत अर्थात् निर्धन कैसे ? परंतु जब इसका यह अर्थ करते हैं कि हे स्वामिन् आप विश्वेश्वर हैं और दुर्गत अर्थात् कठिनाईसे जाने जा सकते हैं तब विरोध कुछ भी नहीं रहता। इसी तरह आप (अक्षर-प्रकृतिः अपि अलिपिः) अक्षरस्वभाव हैं तौ भी लिखनेमें नहीं आसकते । यहां भी यह विरोध जान पड़ता है कि जो अक्षर स्वरूप होगा वह लिखा क्यों न जावेगा । परंतु जब तत्त्वदृष्टिसे विचारते हैं तौ इसका अर्थ यह होता है कि, स्वामिन् आप अक्षरस्वभाव अर्थात् अविनाशी स्वरूपवाले हैं और अलिपिः हैं अर्थात् निराकार परमात्मा होनेके कारण लिखे नहीं जासकते । और अज्ञानवान् होकर भी आपमें सदैव ज्ञान स्फुरायमान रहता है। इसमें यह विरोध जान पड़ता है कि जो अज्ञानवान् होगा उसमें सदैव ज्ञानका सद्भाव कैसे? परंतु जब उसका अर्थ करते हैं तो विरोध नहीं रहता कि, भगवन् आप अज्ञान् अवति अर्थात् छद्मस्थोंको[१] पालनेवाले हैं और आपमें सदैव केवलज्ञान स्फुरायमान रहता है ॥ १० ॥

जगनायक जगपालक यद्यपि, तौ भी दुर्गत आप अहौ ।
यद्यपि हौ अक्षर हे जिनवर, तौ भी लिपि कर रहित रहौ ।

---

१ अपूर्णज्ञानियोंको । मनः पर्य्ययज्ञान पर्य्यन्त छद्मस्थ अवस्था जानना चाहिये ।

यद्यपि हौ अज्ञानवान तुम, तौ भी यह अचरज भारी।
विश्वप्रकाशक ज्ञानज्योतिकी, रहै आपमें उजियारी ॥३०॥

प्राग्भारसम्भृतनभांसि रजांसि रोषा-
दुत्थापितानि कमठेन शठेन यानि।
छायापि तैस्तव न नाथ हता हताशो
ग्रस्तस्त्वमीभिरयमेव परं दुरात्मा ॥ ३१ ॥

अन्वयार्थ—(नाथ) हे नाथ, (प्राक्) पहिले (शठेन कमठेन) दुष्ट कमठने (रोषात्) क्रोधसे (यानि भारसम्भृत-नभांसि रजांसि उत्थापितानि) आकाश व्याप्त करनेवाली जो धूल आपके ऊपर उड़ाई सो हे भगवन् (तैः तु) उस रजसे तो (तव) आपकी (छायापि न हता) छाया भी न हती गई अर्थात् न ढँकी। (परम्) बल्कि (अयमेव दुरात्मा) वही दुष्ट कमठ (हताशः) हताश होकर (अमीभिः) उन रजोंसे अर्थात् कर्मोंसे (ग्रस्तः) जकड़ा गया ॥

भावार्थ—रज शब्दके दो अर्थ हैं एक धूलि दूसरा ज्ञाना-वरणादि कर्म। जैनशास्त्रोंमें ऐसा कहा है कि महात्माओं पर उपसर्ग करनेसे ज्ञानावरणादि कर्मोंका तीव्रबंध होता है। सो उसकी प्रेरी हुई धूल श्रीपार्श्वनाथ स्वामीको तो कुछ भी बाधा न कर सकी किन्तु कमठने अपने परिणाम संक्लेशितकर स्वयम् कर्मबन्ध किया ॥ ३१ ॥

क्रुद्धित होकर कमठ क्रूरने, जब तुमपर उपसर्ग कियौ।
हे जिनवर भरपूर धूर तैं, अखिल गगनकों पूर दियौ॥

पर उस रजतैं छाया हू नहिं, मलिन आपकी नेकु भई ।
उलटी उसी नीचकी उससे, पतित आतमा ढँकी गई॥३१॥

यद्गर्जदूर्जितघनौघमदभ्रभीमं
भ्रश्यत्तडिन्मुसलमांसलघोरधारम् ।
दैत्येन मुक्तमथ दुस्तरवारि दध्रे
तेनैव तस्य जिन दुस्तरवारिकृत्यम् ॥ ३२ ॥

अन्वयार्थ—(अथ) और (जिन) हे जिनेश्वर, (दैत्येन) उस कमठने (गर्जदूर्जितघनौघम्) खूब गर्ज रहे हैं मेघ समूह जिसमें (भ्रश्यत्तडिन्मुसलमांसलघोरधारम्) तड़तड़ाती है बिजली जिसमें और मूसलके समान है बड़ी मोटी धारा जिसकी (अदभ्रभीमम्) और महा भयंकर ऐसा (यत्) जो (दुस्तरवारि) अथाह जल (मुक्तम्) वर्षाया सो हे भगवन् (तेन) उस जलवृष्टिसे (तस्य एव) उसही कमठने अपने लिये (दुस्तरवारिकृत्यम् दध्रे) तीक्ष्ण तलवारका कार्य कर लिया ॥

भावार्थ—हे जिन, कमठने जो आपके ऊपर दुस्तरवारि अर्थात् अथाह जल बरसाया सो ऐसे क्षुद्र उपसर्गोंसे आपका क्या हो सकता है ? परंतु उसीने अपने लिये दुस्तरवारिकृत्य अर्थात् भयंकर तलवारका घाव कर लिया । यहां "दुस्तरवारि" शब्द दो बार आया है । पहिलेका अर्थ न तर सकने योग्य जल है और दूसरेका अर्थ तीक्ष्ण तलवार है । उसका कृत्य अर्थात् तीक्ष्ण तलवारसे घाव (खोटे कर्मोंका बंधन) कर लिया ॥ ३२ ॥

जिसमें तड़िता तड़क तड़क कर, भीम छटा दिखराय रही ।

घोर शोर कर गरज गरज घन, घटा भूमि नियराय रही ॥
ऐसो दुस्तर वारि वहाकर, वर्षा तुमपर असुर करी ।
सो निज कर तैं ही स्वकंठपर, शठने दुस्तरवारि धरी ॥ ३२ ॥

ध्वस्तोर्ध्वकेशविकृताकृति मर्त्यमुण्ड-
प्रालम्बभृद्भयदवक्त्रविनिर्यदग्निः ।
प्रेतव्रजः प्रति भवन्तमपीरितो यः
सोऽस्याभवत्प्रतिभवं भवदुःखहेतुः ॥ ३३ ॥

अन्वयार्थ—उस असुरने (यः) जो (ध्वस्तोर्ध्वकेशविकृताकृतिमर्त्यमुण्डप्रालम्बभृद्) विकराल है आकृति जिनकी ऐसे मनुष्योंके मुँडे हुये सिरोंकी लम्बी लम्बी मालाओंको धारण करनेवाले और (भयदवक्त्रविनिर्यदग्निः) जिनके डरावने मुखसे अग्नि निकल रही है ऐसे (यः) जो (प्रेतव्रजः अपि) पिशाचोंके समूह भी (भवन्तम् प्रति) आपके प्रति (ईरितः) दौड़ाये (सः) वे सबही (अस्य) उस दुष्ट असुरको (प्रतिभवम्) हरएक भवमें (भवदुःखहेतुः) सांसारिक दुःखके कारण (अभवत्) हुए ॥ ३३ ॥

विकृतरूप जन गनकी मुंडी, मूँड़ोंकी माला पहरें ।
अति भयावने मुखसे जिनके, विकट अग्नि ज्वाला फहरें ॥
ऐसे प्रेतसमूह असुरने, हे प्रभु तुम पर प्रेर दये ।
उस ही सठको भव भव माहीं, वे सब दुखके हेतुभये ॥३३॥

धन्यास्त एव भुवनाधिप ये त्रिसन्ध्य-
माराधयन्ति विधिवद्विधुतान्यकृत्याः ।

भक्त्योल्लसत्पुलकपक्ष्मलदेहदेशाः
पादद्वयं तव विभो भुवि जन्मभाजः ॥ ३४ ॥

अन्वयार्थ—(भुवनाधिप विभो) हे त्रिलोकीनाथ स्वामिन्, (भुवि) संसारमें (भक्त्या) भक्तिसे (उल्लसत्पुलकपक्ष्मलदेहदेशाः) जिसके रोम और पलक पुलकित हो रहे हैं ऐसे (ये) जो (जन्मभाजः) प्राणी (विधुतान्यकृत्याः) संसार सम्बन्धी अन्य संपूर्ण कार्योंको छोड़कर (विधिवत्) विधिपूर्वक (तव) आपके (पादद्वयम्) दोनों चरणोंकी (त्रिसन्ध्यम्) प्रभात, दोपहर और सायंकालको (आराधयन्ति) आराधना करते हैं (त एव धन्याः) वे ही धन्य हैं ॥ ३४ ॥

पुलकित पलक रोमविकसित कर, भव प्रपंच त्यागन करिकैं।
विधियुत तीनों संधिकालमें, भक्तिभाव धारण करिकैं ॥
तेरे दोनों चरण कमलको, जो प्राणी आराधत हैं।
हे जगनायक वे ही जगमें, धन्य धन्य कहलावत हैं ॥३४॥

अस्मिन्नपारभववारिनिधौ मुनीश !
मन्ये न मे श्रवणगोचरतां गतोऽसि ।
आकर्णिते तु तव गोत्रपवित्रमन्त्रे
किं वा विपद्विषधरी सविधं समेति ॥ ३५ ॥

अन्वयार्थ—(मुनीश) हे मुनीन्द्र ! (मन्ये) मुझे विश्वास है कि जन्मान्तरमें (अस्मिन् अपारभववारिनिधौ) इस अपार संसारमें ("त्वम्") आप (मे) मेरे (श्रवणगोचरतां गतः) कर्णगोचर (न असि) नहीं हुए हो (तव गोत्रपवित्र-

मन्त्रे आकर्णिते तु) क्योंकि यदि आपका पवित्र नामरूपी मंत्र मैंने सुना होता तो (विपद्विषधरी) आपत्तिरूप नागनी (सविधम् समेति किं वा) क्या समीप आजाती? ॥ ३५ ॥

इस असीम भव जलनिधि माहीं, हे मुनिवृन्दनके स्वामी।
है निश्चय यह हुए नहीं तुम, मेरे श्रवणसुपथगामी॥
क्योंकि आपका नाममंत्र यदि, कभी सुना नीका होता।
तो क्या मेरे पास वास फिर, विपत् नागिनीका होता॥३५॥

जन्मान्तरेऽपि तव पादयुगं न देव!
मन्ये मया महितमीहितदानदक्षम्।
तेनेह जन्मनि मुनीश! पराभवानां
जातो निकेतनमहं मथिताशयानाम्॥ ३६॥

अन्वयार्थ—(देव) हे देव, (मन्ये) मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि (जन्मान्तरेपि) पहिले भवोंमें (मया) मैंने (ईहितदानदक्षम्) मनोवांछित फल देनेको समर्थ (तव) आपके (पादयुगम्) चरण युगल (न महितम्) नहीं पूजे (तेन) उसीसे (इह) इस (जन्मनि) भवमें (मुनीश) हे मुनीश (अहम्) मैं (मथिताशयानाम्) हृदयभेदी (पराभवानाम्) तिरस्कारोंका (निकेतनम्) घर (जातः) हुआ हूं ॥ ३६ ॥

भावार्थ—जो जिनेन्द्रके चरणोंकी पूजा करते हैं वे कभी भी तिरस्कृत नहीं होते ॥ ३६ ॥

मनवांछित फल दान करनकों, जो समर्थ हे देव सदा।
ऐसे जुगल चरणकी सेवा, सो हम कीन्ही नहीं कदा॥

इस कारणसे हृदयविदारक, तिरस्कारआगार सही ।
हुए अहो मुनिनाथ हमें अब, होत अचल विश्वास यही ॥३६॥

नूनं न मोहतिमिरावृतलोचनेन
पूर्वं विभो सकृदपि प्रविलोकितोऽसि ।
मर्माविधो विधुरयन्ति हि मामनर्थाः
प्रोद्यत्प्रबन्धगतयः कथमन्यथैते ॥ ३७ ॥

अन्वयार्थ—(विभो) हे प्रभु, (मोहतिमिरावृतलोचनेन) मोहान्धकारसे ढके हुए हैं नेत्र जिसके ऐसे मैंने (पूर्वम्) पहिले कभी (नूनम्) निश्चयसे (सकृदपि) एकबार भी (न प्रविलोकितःअसि) आपके दर्शन नहीं किये। (अन्यथा) नहीं तो (प्रोद्यत्प्रबन्धगतयः) जिसकी प्रबन्धगति अतिशय बलवती है ऐसे (एते मर्माविधः अनर्थाः) ये हृदयभेदी अनर्थ अर्थात् पापकर्म (माम्) मुझे (कथम् विधुरयन्ति) क्यों सताते ? ॥ ३७ ॥

महामोहके अंधकारतें, अति आच्छादित नैननसे ।
निरखा नहीं तुम्हें प्रभु हमने, पूर्वकालमें निश्चयसे ॥
हे प्रभुवर हम पूर्वकालमें, यदि तेरे दर्शन लेते ।
तो फिर कैसे अतिबलधारक, ये अधर्म बाधा देते ॥ ३७ ॥

आकर्णितोऽपि महितोऽपि निरीक्षितोपि
नूनं न चेतसि मया विधृतोऽसि भक्त्या ।
जातोऽस्मि तेन जनबान्धव दुःखपात्रं
यस्मात्क्रियाः प्रतिफलन्ति न भावशून्याः॥३८॥

अन्वयार्थ—(जनबान्धव) हे जगद्बन्धु, यदि (आकर्णितोऽपि) मैंने आपका नाम सुना भी हो (महितोऽपि) आपकी पूजनभी की हो तथा (निरीक्षतः अपि) आपके दर्शन भी किये हों किन्तु (नूनम्) निश्चय है कि (मया) मैंने (भक्त्या) भक्तिसे (चेतसि) चित्तमें (न विधृतः असि) आपको धारण नहीं किया (तेन) उसीसे (दुःखपात्रम् जातः अस्मि) मैं दुःखभाजन हो रहा हूं (यस्मात्) क्योंकि (भावशून्याः क्रियाः) भावरहित क्रियायें (न प्रतिफलन्ति) सफल नहीं होतीं ॥ ३८ ॥

श्रवण दरश पूजन भी मैंने, यदि हो किसी समय कीन्हा ।
तौ भी सच्चे भक्ति भावसे, नहीं तुम्हें चितमें दीन्हा ॥
इस ही कारण हे जनबान्धव, दुखभाजन मैं हुआ अभी ।
भावरहित हो क्रिया कोई भी, नहीं होत है सफल कभी॥३८॥

त्वं नाथ दुःखिजनवत्सल हे शरण्य
कारुण्यपुण्यवसते वशिनां वरेण्य ।
भक्त्या नते मयि महेश दयां विधाय
दुःखाङ्कुरोद्दलनतत्परतां विधेहि ॥ ३९ ॥

अन्वयार्थ—(हे नाथ) हे नाथ, (शरण्य दुःखिजनवत्सल) हे शरणागत दुखियोंपर प्यार करनेवाले (कारुण्यपुण्यवसते) हे परम करुणानिधान (वशिनां वरेण्य) हे योगीन्द्र तथा (महेश त्वम्) हे महेश्वर ! (भक्त्या) भक्तिसे (नते मयि) नम्रीभूत मुझपर (दयां विधाय) दयाकरके (दुःखाङ्कुरोद्दलनतत्परताम्

विधेहि) मेरे दुःखाङ्कुर नाश करनेमें आप तत्पर हूजिये ॥३९॥
हे यतिपति ! हे महेश ! हे प्रभु, दुखितजनोंके हे प्यारे।
हे करुणाकर ! पुण्यधाम हे, शरणागतपालनहारे ॥
भक्तिभावसे नम्र हुआ हूं, मुझपर प्रभु करुणा कीजे।
दुःखाङ्कुर निर्मूल करनकों, तत्पर हो अपनालीजे ॥ ३९ ॥

निःसख्यसारशरणं शरणं शरण्य-
मासाद्य सादितरिपुप्रथितावदातम्।
त्वत्पादपङ्कजमपि प्रणिधानवन्ध्यो
वन्ध्योऽस्मि तद्भुवनपावन हा हतोऽस्मि ॥४०॥

अन्वयार्थ—(भुवनपावन) हे तीन लोकको पवित्र करनेवाले (निःसख्यसारशरणम्) जिनके कोई सखा या बन्धु नहीं है उनको प्रधानतासे आश्रय देनेवाले (शरणम्) रक्षण करनेवाले (शरण्यम्) शरणागतोंका प्रतिपालन करनेवाले और (सादितरिपुप्रथितावदातम्) अष्टकर्म रूपी शत्रुओंको नष्ट करके अपनी कीर्ति प्रख्यात करनेवाले, (त्वत्पादपङ्कजम् आसाद्य अपि) आपके चरण कमलोंको पाकर भी (प्रणिधानवन्ध्यः) इन चरणोंमें जो मैंने अपने मनकी सावधानी न की अर्थात् उनका ध्यान न किया (तत्) सो हे महाराज ! (वन्ध्यः अस्मि) मैं अभागा फलहीन हूं और (हा हतः अस्मि) हाय मैं हत हूं अर्थात् कर्मो द्वारा मेरी चेतना नष्ट की गई है ॥

भावार्थ—हे भगवन् आपके चरणोंको प्राप्त करके भी यदि मैंने उनका ध्यान नहीं किया तो समझना चाहिये कि अभी प्रेम

बध अर्थात् संसारमें रुलना और भी शेष है तथा आपके चरणों-को प्राप्त करके भी मैं ध्यान नहीं कर सकता, इसलिये जान पड़ता है कि मुझे आपके चरणोंका ध्यान करनेके लिये कर्मोंने असमर्थ कर रक्खा है अर्थात् मेरी चेतना नष्ट कर दी है ॥ ४० ॥

निर्बन्धुनके आश्रयदाता, त्रिजग पवित्र करनहारे ।
दुर्जय महामोहरिपुजयतैं, प्रगट परम कीरतिवारे ॥
शरणयोग्य ऐसे प्रभु तुव पद, पंकजकों हू पाकरके ।
यदि मैं रहा ध्यान बिन तौ हूं, हतभागी निश्चय करके॥४०॥

देवेन्द्रवन्द्य विदिताखिलवस्तुसार
संसारतारक विभो भुवनाधिनाथ ।
त्रायस्व देव करुणाहृद मां पुनीहि
सीदन्तमद्य भयदव्यसनाम्बुराशेः ॥ ४१ ॥

अन्वयार्थ—(देवेन्द्रवन्द्य) देवों कर वन्दनीक (विदिताखिलवस्तुसार) सब पदार्थोंके तत्त्व जाननेवाले (संसार तारक) संसारसे उद्धार करनेवाले (विभो) हे प्रभु अर्थात् ज्ञानापेक्षा सर्वत्र व्यापक (भुवनाधिनाथ) हे त्रिलोकीनाथ (करुणाहृद) हे दयासरोवर (देव) हे देव (अद्य सीदन्तम् माम् त्रायस्व) आज मुझ दुखियाकी रक्षा करो (भयदव्यसनाम्बुराशेः पुनीहि) भयंकर दुखसागरसे मुझे बचाओ ॥ ४१ ॥

सुरपतिगण कर वन्दनीय प्रभु, अहो जगततारनहारे ।
दयासरोवर तीनभुवनपति, सकल ज्ञेय जाननहारे ॥
हे जिनवर! हे विभो! कृपाकर, मेरी अब रक्षा कीजे ।
महा भयंकर दुखसागरसें, काढ़ साथ मुझको लीजे ॥ ४१ ॥

यद्यस्ति नाथ भवदङ्घ्रिसरोरुहाणां
भक्तेः फलं किमपि सन्ततसञ्चितायाः ।
तन्मे त्वदेकशरणस्य शरण्य भूयाः
स्वामी त्वमेव भुवनेऽत्र भवान्तरेऽपि ॥ ४२ ॥

अन्वयार्थ—(नाथ) हे नाथ (त्वदेकशरणस्य मे) केवल आपही की है शरण जिसको ऐसे मुझे (सन्ततसञ्चितायाः) चिरकालसे की हुई (भवदङ्घ्रिसरोरुहाणाम् भक्तेः) आपके चरण कमलोंकी भक्तिका (यदि) यदि मुझे (किमपि फलं अस्ति तत्) थोड़ा बहुत कुछ फल हो तो (शरण्य) हे आश्रय दायक, वह यही हो कि (त्वमेव) आप ही (अत्रभुवने भवान्तरेऽपि) इस लोकमें और परलोकमें भी (स्वामी भूयाः) मेरे स्वामी होवें ? ॥ ४२ ॥

केवल शरण आपका जिसको, ऐसे इस जनने स्वामी ।
विपुल काल तव चरणकमलकी, सेवा की अन्तर्यामी ॥
उसका हे प्रभुवर यदि कुछ मैं, सुफल तनिक भी जो पाऊं ।
तो वह यह, भव भवके माहीं; तुम ही को समझूं ध्याऊं॥४२॥

इत्थं समाहितधियो विधिवज्जिनेन्द्र
सान्द्रोल्लसत्पुलककञ्चुकिताङ्गभागाः ।
त्वद्बिम्बनिर्मलमुखाम्बुजबद्धलक्ष्याः
ये संस्तवं तव विभो रचयन्ति भव्याः ॥४३॥

जननयनकुमुदचन्द्र—
प्रभास्वराःस्वर्गसम्पदो भुक्त्वा ।

ते विगलितमलनिचया
अचिरान्मोक्षं प्रपद्यन्ते ॥ ४४ ॥

अन्वयार्थ—(जिनेन्द्र) हे जिनेश्वर (ये भव्याः) जो भव्यजन (समाहितधियः) बुद्धिको सावधानकर (त्वद्बिम्बनिर्मलमुखाम्बुजबद्धलक्ष्याः) आपके निर्मल मुखारविन्दकी ओर लक्ष्यकर अर्थात् आपकी ओर टकटकी लगाकर और (सान्द्रोल्लसत्पुलककञ्चुकिताङ्गभागाः) सघन तथा उठे हुये रोमाञ्चोंका वेष पहिन कर (विभो) हे स्वामिन् (तव) आपकी (इत्थं विधिवत्) इस प्रकार विधिपूर्वक (संस्तवम्) स्तुति (रचयन्ति) रचते हैं अर्थात् बनाकर पढ़ते हैं ॥ ४३ ॥ (ते) वे, (जननयनकुमुदचन्द्र) हे प्राणियोंके नेत्रकुमुदोंको चन्द्रमाकी तरह प्रकाशित करनेवाले (प्रभास्वराः स्वर्ग सम्पदो भुक्त्वा) दैदीप्यमान् स्वर्गलोककी नाना सम्पत्तियोंको भोगकर (विगलितमलनिचयाः) अष्टकर्म रूपी मलको आत्मासे दूरकर (अचिरात्) बहुत जल्दी (मोक्षं प्रपद्यन्ते) मुक्तिको पाते हैं अर्थात् सिद्ध हो जाते हैं ॥४४॥

हे विभुवर जो नर निशि वासर, सावधान निज मति करके ।
तव मुखाब्जकी ओर लक्षकर, निरखत हैं इकटक धरिके ॥
रोम राँजि सब विकसित करके, उरमें अतिशय हर्ष भरें ।
इस प्रकार तें हे प्रभु तेरी, विधि समेत नित थुति विरचें ॥४३॥
जन समूहके नयनकुमुदको, हे निशिपति उपमाधारी ।
तें नर स्वर्गलोकके निर्मल, विभव भोगके सुखकारी ॥

१ इस संस्कृत ग्रन्थमें आदिके ४३ तो वसन्ततिलका छन्द हैं और अंतिम छन्द आर्य्या है। २ यहां उठे हुए रोमोंको वस्त्रकी उपमा दी है। ३ समूह।

स्वल्प कालमें निज आतमसे, अष्ट करमकों नाश करें।
सिद्धदशाकों प्राप्त होयकर, मुक्तिधाममें वास करें ॥ ४४ ॥

प्रार्थना। छन्द हुल्लास।

कुमुदचन्द्र कवि ज्ञानदिवाकर।पंडित गुणमंडित रतनाकर॥
मैं नहिं छन्दशास्त्र पहिचानों। रवि सन्मुख खद्योत प्रमानों ॥
मानो मुनि बानी, परम प्रमानी, सुखरस सानी, पाप दलै।
तिनकी बुधिमत्ता,त्यों कवि सत्ता, को नहिं पत्ता, हमें मिलै॥
पारस जिनराजा,जलधि जहाजा, मैं निज काजा,कीन्ह थुती।
विनती चित धारो, चूक सुधारो,त्रुटि निरवारो, दिव्य मती॥

इति



श्रीकल्याणमंदिरस्तोत्रका भाषानुवाद.

स्वर्गीय पं. बनारसीदासजी रचित

दोहा।

परमज्योति परमातमा परमज्ञान परवीन।
वंदों परमानन्दमय, घट घट अन्तरलीन ॥ १ ॥

चौपई। (१५ मात्रा)

निर्भयकरन परम परधान। भवसमुद्र जलतारण जान॥
शिवमंदिर अघहरण अनिन्द। वन्दहुं पासचरणअरविन्द ॥२॥
कमठमानभंजन वरवीर। गरिमासागर गुण गंभीर॥
सुरगुरुपार लहें नहिंजासु। मैं अजान जंपों जस तासु ॥ ३ ॥
प्रभुसरूप अति अगम अथाह। क्यों हमसे इह होय निवाह॥
ज्यों दिन अंध उलूको पोत। कहि न सकै रविकिरनउदोत॥४॥
मोहहीन जानै मन मांहिं। तोउ न तुमगुण वरणें जाहिं॥
प्रलयपयोधि करै जल वौन। प्रगटहिं रतन गिनै तिहि कौन॥५॥
तुम असंख्यनिर्मलगुणखानि। मैं मतिहीन कहों निज वानि॥
ज्यों वालक निज वांह पसार। सागरपरिमित कहै विचार॥६॥
जो जोगीन्द्र करहिं तप खेद। तऊँ न जानंहिं तुम गुण भेद॥
भगतिभाव मुझ मन अभिलाख। ज्यों पंखी वोलहिं निज माख॥
तुम जस महिमा अगम अपार। नाम एक त्रिभुवन आधार॥
आवै पवन पद्मसर होय। ग्रीषमतपत निवारै सोय ॥ ८ ॥

---

१ बच्चा। २ वमन। ३ कमल सरोवरसे स्पर्श करके।

तुम आवत भविजन मनमाहिं। कर्मनिबंधशिथिल हो जाँहिं॥
ज्यों चन्दन तरु बोलहिं मोर। डरहिं भुजंग लगे चहुंओर ॥९॥

तुम निरखत जन दीनदयाल। संकट तें छूटहिं ततकाल ॥
ज्यों पशु घेर लेहिं निशि चोर। ते तज भागहिं देखत भोर ॥१०॥

तू भविजन तारक किम होह। ते चित धारि तिरहिं लै तोह ॥
यह ऐसें कर जान स्वभाउ। तिरै मसक ज्यों गर्भितवाउ ॥११॥

जिन सब देव किये वश वाम। तें छिनमें जीत्यो सो काम ॥
ज्यों जल करै अग्निकुलहानि। बड़वानल पीवै सो पानि ॥१२॥

तुम अनन्त गरुवा गुण लिये। क्योंकर भक्ति धरूं निजहिये॥
ह्वै लघु रूप तिरहिं संसार। यह प्रभुमहिमा अकथ अपार ॥१३॥

क्रोध निवार कियो मन शांति। कर्म सुभट जीते किहिं भांति॥
यह पटतर देखहु संसार। नीलवृक्ष ज्यों दहै तुपार ॥ १४ ॥

मुनिजनहिये कमल निजटोहि। सिद्धरूपसम ध्यावहिं तोहि॥
कमलकर्णिका विन नहिं और। कमल बीज उपजनकी ठौर१५

जब तुह ध्यानधरै मुनि कोय। तब विदेह परमातम होय ॥
जैसे धातु शिलातन त्याग। कनक स्वरूप धवै जब आग॥१६॥

जाके मन तुम करहु निवास। विनस जाय क्यों विग्रह तास ॥
ज्यों महन्तविच आवै कोय। विग्रह मूल निवारै सोय ॥१७॥

करहिंविबुध जे आतम ध्यान। तुम प्रभावतें होय निदान ॥
जैसे नीर सुधा अनुमान। पीवत विष विकारकी हान ॥१८॥

तुम भगवन्त विमल गुण लीन। समल रूप मानहिं मतिहीन ॥
ज्यों नीलिया रोग दृग गहै। वर्ण विवर्ण संख सौं कहै ॥१९॥

दोहा।

निकट रहत उपदेश सुनि, तरुवर भये अशोक।
ज्यों रवि-ऊगत जीव सब, प्रगट होत भुविलोक ॥ २० ॥
सुमनवृष्टि जो सुर करहिं, हेठ बीट मुख सोहिं।
त्यों तुम सेवत सुमनजन, बंध अधोमुख होहिं ॥ २१ ॥
उपजी तुम हिय उदधितैं, वाणी सुधा समान।
जिहिं पीवत भविजन लहहिं, अजर अमर पदथान ॥२२॥
कहहिं सार तिहुंलोक को, ये सुरचामर दोय।
भाव सहित जो जिन नमें, तसु गति ऊरध होय ॥२३॥
सिंहासन गिरि मेरु सम, प्रभु धुनि गरजत घोर।
श्याम सुतन घनरूप लखि, नाचत भविजन मोर ॥२४॥
छवि हत होंहिं अशोकदल, तुवभामंडल देख।
वीतरागके निकट रह, रहत न राग विशेख ॥ २५ ॥
सीख कहै तिहुंलोक को, यह सुरदुंदुभि नाद।
शिवपथ सारथिवाह जिन, भजहु तजहु परमाद ॥ २६ ॥
तीन छत्र त्रिभुवन उदित, मुक्तागण छवि देत।
त्रिविध रूप धर मनहुं शशि, सेवत नखत समेत ॥२७॥

पद्धरि छन्द

प्रभु तुम शरीर दुति रतन जेम। परताप पुंज जिम शुद्ध हेम ॥
अति धवलसुजस रूपा समान। तिनके गढ़ तीन विराजमान ॥
सेवहिं सुरेन्द्र कर नमित भाल। तिन शीस मुकुट तज देहिं माल
तुव चरण लगत लहलहैं प्रीति। नहिं रमहि और जन सुमनरीति

प्रभु भोग विमुख तन कर्म दाह । जन पार करंत भवजल निवाह ॥
ज्यों माटीकलश सुपक्क होय । लैभार अधो मुख तिरहि तोय३०
तुम महाराज निर्द्धन निराश । तज विभव विभव सब जगविकाश
अक्षर स्वभावसैं लिखैं न कोय।महिमा अनंत भगवंत सोय३१
कोप्यौ सु कमठ निज वैर देख । तिन करी धूल वर्षा विशेख ॥
प्रभु तुम छाया नहिं भई हीन । सो भयो पापि लम्पट मलीन३२
गरजन्त घोर घन अंधकार । चमकंत विज्जु जलमुसलधार ॥
वरषंत कमठ धर ध्यान रुद्र । दुस्तर करंत निजभवसमुद्र ॥३३॥

वस्तु छन्द।

मेघमाली मेघमाली आप बल फोरि ।
भेजे तुरत पिशाचगण, नाथ पास उपसर्ग कारण ।
अग्निजाल झलकंत मुख धुनि, करंत जिमि मत्तवारण ॥
काल रूप विकराल तन, मुंडमाल तिह कंठ ।
है निशंक वह रंक निज, करे कर्मदृढ़गंठ ॥ ३४ ॥

चौपाई ।

जे तुव चरण कमल तिहुंकाल । सेवहिं तजि मायाजंजाल ॥
भाव भगति मन हरष अपार । धन्य २ जग तिन अवतार३५
भव सागर मँह फिरत अजान।मैं तुह सुजश सुन्यो नहिं कान॥
जो प्रभुनाम मंत्र मन धरै । तासों विपति भुजंगम डरै ॥३६॥
मन वांछित फल जिनपदमाहिं । मैं पूरवभव पूजे नाहिं ॥
माया मगन फिर्‌यौ अज्ञान । करहिं रंकजन मुझ अपमान ३७
मोह तिमिर छायो दृग मोहि । जन्मान्तर देख्यो नहिं तोहि ॥
तौ दुर्जन मुझ संगति गहैं । मरमछेदके कुवचन कहैं ॥ ३८ ॥

सुन्यो कान जस पूजे पाय । नैनन देख्यो रूप अघाय ॥
भक्ति हेतु न भयो चित चाव । दुखदायक किरिया बिन भाव

महाराज शरणागतपाल । पतितउधारण दीनदयाल ॥
सुमरण करहुं नाय निज शीस । मुझ दुख दूर करहु जगदीश ॥

कर्मनिकंदन महिमा सार । अशरणशरण सुजश विस्तार ॥
नहिं सेये प्रभु तुमरे पाय । तो मुझ जनम अकारथ जाय ४१

सुरगण वन्दित दयानिधान । जगतारण जगपति जगजान ॥
दुखसागर तें मोहि निकासि । निर्भयथान देहु सुखराशि ४२

मैं तुम चरण कमल गुण गाय । बहुविधि भक्ति करी मन लाय
जन्म जन्म प्रभु पावहुं तोहि । यह सेवा फल दीजे मोहि ४३

दोधकान्त वेसरी छंद । षट्पद ।

इहि विधि श्री भगवंत, सुजश जे भविजन भाषहिं ।
ते निज पुण्य भंडार, संच चिरपाप प्रणासहिं ॥
रोम रोम हुलसंत अंग, प्रभु गुणमनध्यावहिं ।
स्वर्ग संपदा भुंज, वेग पंचम गति पावहिं ॥

यह कल्याणमन्दिर कियो, कुमुदचन्द्र की बुद्धि ।
भाषा कहत बनारसी, कारण समकितशुद्धि ॥ ४४ ॥

पुस्तकसंशोधन।

वर्तमानमें पुस्तक मुद्रण करानेका प्रचार विशेषतासे हुआ है परन्तु बहुधा देखनेमें आया है कि कोई कोई महाशय हिन्दी भाषासे अनभिज्ञ होनेके कारण पुस्तकें अशुद्ध और भाषाशैलीसे विपरीत छपा देते हैं। अथवा कोई कोई महानुभाव नवीन ग्रंथ या प्राचीन ग्रंथोंकी प्रेसकापी निर्माण करते हैं परन्तु संशोधनाभावमें छपानेसे वंचित रहते हैं। इससे भाषाके साहित्यको बडी भारी क्षति पहुँचती है। इस लिये हम सर्वसाधारण सज्जनोंसे निवेदन करते हैं कि यदि वे कोई भाषाका जैनग्रंथ वा हिन्दीकी पुस्तक हमारे पास संशोधनार्थ भेजेंगे तो हम उचित परिश्रम लेकर अवकाश और योग्यताके अनुसार संशोधन कर देंगे और उचित सम्मति देवेंगे। यदि कोई महाशय किसी भाषाजैनग्रंथकी प्रेसकापी तैय्यार करावेंगे तो वह भी कर देवेंगे।

साहित्यसेवी—

बुधूलाल श्रावक,
हाकगंज दमोह (मध्यप्रदेश).